।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ अष्टमोऽध्यायः

सातवें अध्याय के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि पुण्यकर्म (नियतकर्म, आराधना) को करनेवाले योगी सम्पूर्ण पापों से छूटकर उस व्याप्त ब्रह्म को जानते हैं अर्थात् कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो व्याप्त ब्रह्म की जानकारी दिलाता है। उस कर्म को करनेवाले व्याप्त ब्रह्म को, सम्पूर्ण कर्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञसहित मुझको जानते हैं। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो इन सबसे परिचय कराती है। वे अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं। उनकी जानकारी कभी विस्मृत नहीं होती है।

इस पर अर्जुन ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही उन्हीं शब्दों को दुहराते हुए प्रश्न रखा–

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहा जाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में कैसे है? सिद्ध है कि अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता कोई ऐसा पुरुष है, जो मनुष्य शरीर के आधारवाला है। समाहित चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं? इन सातों प्रश्नों का क्रम से निर्णय देने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले–

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

'**अक्षरं ब्रह्म परमम्**'- जो अक्षय है, जिसका क्षय नहीं होता, वही परमब्रह्म है। '**स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते**'- स्वयं में स्थिर भाव ही अध्यात्म अर्थात् आत्मा का आधिपत्य है। इससे पहले सभी माया के आधिपत्य में रहते हैं; किन्तु जब 'स्व'-भाव अर्थात् स्वरूप में स्थिरभाव (स्वयं में स्थिरभाव) मिल जाता है तो आत्मा का ही आधिपत्य उसमें प्रवाहित हो जाता है। यही अध्यात्म है, अध्यात्म की पराकाष्ठा है। '**भूतभावोद्भवकरः**'- भूतों के वे भाव जो कुछ-न-कुछ उद्भव करते हैं अर्थात् प्राणियों के वे संकल्प जो भले अथवा बुरे संस्कारों की संरचना करते हैं उनका विसर्ग अर्थात् विसर्जन, उनका मिट जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। यही सम्पूर्ण कर्म है, जिसके लिए योगेश्वर ने कहा था, 'वह सम्पूर्ण कर्म को जानता है।' वहाँ कर्म पूर्ण है, आगे आवश्यकता नहीं है (नियत कर्म) इस अवस्था में जबकि भूतों के वे भाव जो कुछ-न-कुछ रचते हैं, भले अथवा बुरे संस्कार-संग्रह करते हैं, बनाते हैं, वे जब सर्वथा शान्त हो जायँ, यही कर्म की सम्पूर्णता है। इसके आगे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो भूतों के सम्पूर्ण संकल्पों को, जिनसे कुछ-न-कुछ संस्कार बनते हैं उनका शमन कर देती है। कर्म का अर्थ है (आराधना) चिन्तन, जो यज्ञ में है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।

जब तक अक्षय भाव नहीं मिलता, तब तक नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण क्षर भाव अधिभूत अर्थात् भूतों के अधिष्ठान हैं। वही भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। '**पुरुषः च अधिदैवतम्**'- प्रकृति से परे जो परम पुरुष है, वही अधिदैव अर्थात् सम्पूर्ण देवों (दैवी सम्पद्) का अधिष्ठाता है। दैवी सम्पद् उसी परमदेव में विलीन हो जाती है। देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस मनुष्य तन में मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ अर्थात् यज्ञों का अधिष्ठाता हूँ। अतः इसी शरीर में, अव्यक्त स्वरूप में स्थित महापुरुष ही अधियज्ञ है। श्रीकृष्ण एक योगी थे।

जो सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता है, अन्त में यज्ञ उसमें प्रवेश पा जाते हैं। वही परमस्वरूप मिल जाता है। इस प्रकार अर्जुन के छः प्रश्नों का समाधान हुआ। अब अन्तिम प्रश्न कि, अन्तकाल में कैसे आप जानने में आते हैं, जो कभी विस्मृत नहीं होते?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकाल में अर्थात् मन के निरोध और विलयकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर के सम्बन्ध को छोड़ अलग हो जाता है, वह **'मद्‌भावम्'**- साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

शरीर का निधन शुद्ध अन्तकाल नहीं है। मरने के बाद भी शरीरों का क्रम पीछे लगा रहता है। संचित संस्कारों की सतह के मिट जाने के साथ ही मन का निरोध हो जाता है। और वह मन भी जब विलीन हो जाता है तो वहीं पर अन्तकाल है, जिसके बाद शरीर धारण नहीं करना पड़ता। यह क्रियात्मक है। केवल कहने से, वार्त्ताक्रम से समझ में नहीं आता। जब तक वस्त्रों की तरह शरीर का परिवर्तन हो रहा है, तब तक शरीरों का अन्त कहाँ हुआ? मन के निरोध और निरुद्ध मन के भी विलयकाल में जीते-जी शरीर के सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है। यदि मरने के बाद ही यह स्थिति मिलती तो श्रीकृष्ण भी पूर्ण नहीं होते। उन्होंने कहा कि अनेक जन्मों के अभ्यास से प्राप्तिवाला ज्ञानी साक्षात् मेरा स्वरूप है। मैं वह हूँ और वह मुझमें है। लेशमात्र भी उसमें और मुझमें अन्तर नहीं है। यह जीते-जी प्राप्ति है। जब फिर कभी शरीर न मिले, वही शरीरों का अन्त है।

यह तो वास्तविक शरीरान्त का चित्रण हुआ, जिसके पश्चात् जन्म नहीं लेना पड़ता है। दूसरा शरीरान्त मृत्यु है, जो लोक-प्रचलित है; किन्तु इस शरीरान्त के पश्चात् पुनः जन्म लेना पड़ता है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

कौन्तेय! मृत्यु के समय मनुष्य जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है। तब तो बड़ा सस्ता सौदा

है। आजीवन मौज करें, मरने लगें तो भगवान का स्मरण कर लेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- ऐसा होता नहीं, **'सदा तद्भावभावित:'**- उस ही भाव का चिन्तन कर पाता है, जैसा जीवन भर किया है। वही विचार बरबस आ जाता है, जिसका जीवन भर अभ्यास किया गया है, अन्यथा नहीं हो पाता। अत:-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

इसलिए अर्जुन! तू हर समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मुझमें अर्पित मन और बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। निरन्तर चिन्तन और युद्ध एक साथ कैसे सम्भव है? हो सकता है कि निरन्तर चिन्तन और युद्ध का यही स्वरूप हो कि 'जय कन्हैयालाल की', 'जय भगवान् की' कहते रहें और बाण चलाते रहें। किन्तु स्मरण का स्वरूप अगले श्लोक में स्पष्ट करते हुए योगेश्वर कहते हैं-

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! उस स्मरण के लिए योग के अभ्यास से युक्त हुआ (मेरा चिन्तन और योग का अभ्यास पर्याय है) मेरे सिवाय दूसरी ओर न जानेवाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करनेवाला परमप्रकाशस्वरूप दिव्यपुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है। मान लीजिए कि यह पेन्सिल भगवान है, तो इसके सिवाय अन्य किसी वस्तु का स्मरण नहीं आना चाहिए। इसके अगल-बगल आपको पुस्तक दिखाई पड़ती है या अन्य कुछ भी, तो आपका स्मरण खण्डित हो गया। स्मरण जब इतना सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त दूसरी वस्तु का स्मरण भी न हो, मन में तरंगें भी न आयें, तो स्मरण और युद्ध दोनों एक साथ कैसे होंगे? वस्तुतः जब आप चित्त को सब ओर से समेटकर अपने एक आराध्य के स्मरण में प्रवृत्त होंगे, तो उस समय मायिक प्रवृत्तियाँ काम-क्रोध, राग-द्वेष बाधा के रूप में सामने प्रकट ही हैं। आप स्मरण करेंगे; किन्तु वे आपके अन्दर उद्वेग पैदा करेंगी, आपका मन स्मरण से चलायमान करना चाहेंगी। इन बाह्य प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। निरन्तर चिन्तन के साथ ही युद्ध सम्भव है। गीता का एक भी श्लोक बाह्य

मार-काट का समर्थन नहीं करता। चिन्तन किसका करें? इस पर कहते हैं-

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

उस युद्ध के साथ वह पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले किन्तु अचिन्त्य (जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह दिखाई नहीं देता। चित्त के निरोध और विलयकाल में ही जो विदित होता है), नित्य प्रकाशस्वरूप और अविद्या से परे उस परमात्मा का स्मरण करता है। पीछे बताया - मेरा चिन्तन करता है, यहाँ कहते हैं - परमात्मा का। अतः उस परमात्मा के चिन्तन (ध्यान) का माध्यम तत्त्वस्थित महापुरुष है। इसी क्रम में-

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

जो निरन्तर उस परमात्मा का स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष **'प्रयाणकाले'**- मन के विलीन अवस्थाकाल में योगबल से अर्थात् उसी नियत कर्म के आचरण द्वारा भृकुटी के मध्य में प्राण को भली प्रकार स्थापित करके (प्राण-अपान को भली प्रकार सम करके, न अन्दर से उद्वेग पैदा हो न बाह्य संकल्प कोई लेनेवाला हो, सत्-रज-तम भली प्रकार शान्त हों, सुरत इष्ट में ही स्थित हो, उस काल में) वह अचल मन अर्थात् स्थिर बुद्धिवाला पुरुष उस दिव्यपुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है। सतत स्मरणीय है कि उसी एक परमात्मा की प्राप्ति का विधान योग है। उसके लिये नियत क्रिया का आचरण ही योग-क्रिया है, जिसका सविस्तार वर्णन योगेश्वर ने चौथे-छठें अध्याय में किया है। अभी उन्होंने कहा - ''निरन्तर मेरा ही स्मरण कर''। कैसे करें? तो इसी योग-धारणा में स्थिर रहते हुए करना है। ऐसा करनेवाला दिव्यपुरुष को ही प्राप्त होता है, जो कभी विस्मृत नहीं होता। यहाँ इस प्रश्न का समाधान हुआ कि आप प्रयाणकाल में किस प्रकार जानने में आते हैं? पाने योग्य पद का चित्रण देखें, जो गीता में स्थान-स्थान पर आया है-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

'वेदविद्' अर्थात् अविदित तत्त्व को प्रत्यक्ष जाननेवाले लोग जिस परमपद को **'अक्षरम्'**- अक्षय कहते हैं, वीतराग महात्मा जिसमें प्रवेश के लिए यत्नशील रहते हैं, जिस परमपद को चाहनेवाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं (ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय मात्र का निरोध नहीं, बल्कि **'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'**- बाह्य स्पर्शों को मन से त्यागकर ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन-स्मरण ही ब्रह्मचर्य है, जो ब्रह्म का दर्शन करा उसी में स्थान दिला शान्त हो जाता है। इस आचरण से इन्द्रिय संयम ही नहीं, बल्कि सकलेन्द्रिय संयम स्वतः हो जाता है। इस प्रकार जो ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं), जो हृदय में संग्रह करने योग्य है, धारण करने योग्य है उस पद को मैं तेरे लिए कहूँगा। वह पद है क्या, कैसे पाया जाता है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

सब इन्द्रियों के दरवाजों को रोककर अर्थात् वासनाओं से अलग रहकर, मन को हृदय में स्थित करके (ध्यान हृदय में ही धरा जाता है, बाहर नहीं। पूजा बाहर नहीं होती) प्राण अर्थात् अन्तःकरण के व्यापार को मस्तिष्क में निरोधकर, योग-धारणा में स्थित होकर (योग को धारण किये रहना है, दूसरा तरीका नहीं है) इस प्रकार स्थित होकर-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

जो पुरुष **'ओम् इति'**- ओम् इतना ही, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप तथा मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, परमतत्त्व में स्थित महापुरुष, सद्गुरु थे। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि 'ओम्' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, तू उसका जप कर और ध्यान मेरा कर। प्राप्ति के हर महापुरुष का नाम वही होता है जिसे

वह प्राप्त है, जिसमें वह विलय है इसलिए नाम ओम् बताया और रूप अपना। योगेश्वर ने 'कृष्ण-कृष्ण' जपने का निर्देश नहीं दिया। कालान्तर में भावुकों ने उनका भी नाम जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा के अनुसार उसका फल भी पाते हैं; जैसा कि मनुष्य की श्रद्धा जहाँ टिक जाती है वहाँ मैं ही उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता तथा मैं ही फल का विधान भी करता हूँ।

भगवान शिव ने 'राम' शब्द के जपने पर बल दिया। **'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः।' 'रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।'** रा और म इन दो अक्षरों के अन्तराल में कबीर अपने मन को रोकने में सक्षम हो गये।

श्रीकृष्ण ओम् पर बल देते हैं। ओ अहं स ओम् अर्थात् वह सत्ता मेरे भीतर है, कहीं बाहर न ढूँढ़ने लगे। यह ओम् भी उस परम सत्ता का परिचय देकर शान्त हो जाता है। वास्तव में उस प्रभु के अनन्त नाम हैं; किन्तु जप के लिए वही नाम सार्थक है जो छोटा हो, श्वास में ढल जाए और एक परमात्मा का ही बोध कराता हो। उससे भिन्न अनेक देवी-देवताओं की अविवेकपूर्ण कल्पना में उलझकर लक्ष्य से दृष्टि न हटा दें।

'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि - 'मेरा रूप देखें और श्रद्धानुसार कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम - 'ॐ', 'राम', 'शिव' में से कोई एक लें। उसका चिन्तन करें और उसी के अर्थस्वरूप इष्ट के स्वरूप का ध्यान करें।'' ध्यान सद्गुरु का ही किया जाता है। आप राम, कृष्ण अथवा **'वीतराग विषयं वा चित्तम्।'** वीतराग महात्माओं अथवा **'यथाभिमतध्यानाद्वा।' (पातंजल योग०, १/३७, ३९)** अभिमत अर्थात् योग के अभिमत, अनुकूल किसी का भी स्वरूप पकड़ें, वे अनुभव में आपको मिलेंगे और आपके समकालीन किसी सद्गुरु की ओर बढ़ा देंगे, जिनके मार्ग-दर्शन से आप शनैः-शनैः प्रकृति के क्षेत्र से पार होते जायेंगे। मैं भी प्रारम्भ में एक देवता (कृष्ण के विराट् रूप) के चित्र का ध्यान करता था; किन्तु पूज्य महाराज जी के अनुभवी प्रवेश के साथ वह शान्त हो गया।

प्रारम्भिक साधक नाम तो जपते हैं; किन्तु महापुरुष के स्वरूप का ध्यान करने में हिचकते हैं। वे अपनी अर्जित मान्यताओं का पूर्वाग्रह छोड़

नहीं पाते। वे किसी अन्य देवता का ध्यान करते हैं, जिसका योगेश्वर श्रीकृष्ण ने निषेध किया है। अतः पूर्ण समर्पण के साथ किसी अनुभवी महापुरुष की शरण लें। पुण्य-पुरुषार्थ सबल होते ही कुतर्कों का शमन और यथार्थ क्रिया में प्रवेश मिल जायेगा। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार इस प्रकार 'ॐ' के जप और परमात्म-स्वरूप सद्‌गुरु के स्वरूप का निरन्तर स्मरण करने से मन का निरोध और विलय हो जाता है और उसी क्षण शरीर के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है। केवल मरने से शरीर पीछा नहीं छोड़ता।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

''मेरे अतिरिक्त और कोई चित्त में है ही नहीं।'' - अन्य किसी का चिन्तन न करता हुआ अर्थात् अनन्य चित्त से स्थिर हुआ जो अनवरत मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें युक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। आपके सुलभ होने से क्या मिलेगा?-

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

मुझे प्राप्त कर वे दुःखों के स्थानस्वरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, बल्कि परमसिद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझे प्राप्त होना अथवा परमसिद्धि को प्राप्त होना एक ही बात है। केवल भगवान ही ऐसे हैं, जिन्हें पाकर उस पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। फिर पुनर्जन्म की सीमा कहाँ तक है?-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अर्जुन! ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंगादि सभी लोक पुनरावर्ती हैं, जन्म लेने और मरने तथा पुनः-पुनः इसी क्रम में चलनेवाले हैं; किन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त होकर उस पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता।

धर्मग्रन्थों में लोक-लोकान्तरों की परिकल्पना ईश्वर-पथ की विभूतियों का बोध कराने के आन्तरिक अनुभव या रूपक मात्र हैं। अन्तरिक्ष में न तो कोई ऐसा गड्ढा है, जहाँ कीड़े काटते हों और न ऐसा महल जिसे स्वर्ग कहा जाता हो। दैवी सम्पद् से युक्त पुरुष देवता और आसुरी सम्पद् से युक्त मनुष्य ही असुर हैं। श्रीकृष्ण के ही सगे-सम्बन्धी कंस राक्षस और बाणासुर

दैत्य थे। देव, मानव, तिर्यक् योनियाँ ही विभिन्न लोक हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार यह जीवात्मा मनसहित पाँचों इन्द्रियों को लेकर जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के अनुरूप नया शरीर धारण कर लेता है।

अमर कहे जानेवाले देवता भी मरणधर्मा हैं - **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'**। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? वह देव-तन ही किस काम का, जिसमें संचित पुण्य भी समाप्त हो जाय? देवलोक, पशुलोक, कीट-पतंगादि लोक भोगलोक मात्र हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है, जिसके द्वारा वह उस परमधाम तक को प्राप्त कर सकता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यथार्थ कर्म का आचरण करके मनुष्य देवता बन जाय, ब्रह्मा की स्थिति प्राप्त कर ले; किन्तु वह पुनर्जन्म से तब तक नहीं बच सकता, जब तक कि मन के निरोध और विलय के साथ परमात्मा का साक्षात्कार करके उसी परमभाव में स्थित न हो जाय। उदाहरणार्थ उपनिषद् भी इस सत्य का उद्घाटन करते हैं-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।

(कठो०, २/३/१४)

जब हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं, इसी संसार में, इसी मनुष्य-शरीर में परब्रह्म का भली-भाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है।

प्रश्न उठता है कि क्या ब्रह्मा भी मरणधर्मा है? अध्याय तीन में तो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रजापति ब्रह्मा के प्रसंग में कहा था कि प्राप्ति के पश्चात् बुद्धि मात्र यन्त्र है। उसके द्वारा परमात्मा ही व्यक्त होता है। ऐसे महापुरुषों के द्वारा ही यज्ञ की संरचना हुई है और यहाँ कहते हैं कि ब्रह्मा की स्थिति प्राप्त करनेवाला भी पुनरावर्ती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं?

वस्तुतः जिन महापुरुषों के द्वारा परमात्मा ही व्यक्त होता है, उन महापुरुषों की बुद्धि भी ब्रह्मा नहीं है; लेकिन लोगों को उपदेश देने के कारण, कल्याण का सूत्रपात् करने के कारण ब्रह्मा कहे जाते हैं। स्वयं में वे ब्रह्मा भी नहीं है। उनके पास अपनी बुद्धि रह ही नहीं जाती। किन्तु इसके पूर्व साधनाकाल में

बुद्धि ही ब्रह्मा है – **'अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।' (मानस, ६/१५क)**

साधारण मनुष्य की बुद्धि ब्रह्मा नहीं है। बुद्धि जब इष्ट में प्रवेश करने लगती है तभी से ब्रह्मा की रचना होने लगती है, जिसके चार सोपान मनीषियों ने कहे हैं। पीछे अध्याय तीन में बता आये हैं, स्मरण के लिए पुनः देख सकते हैं – ब्रह्मवित, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ। ब्रह्मवित वह बुद्धि है, जो ब्रह्मविद्या से संयुक्त हो। ब्रह्मविद्वर वह है, जिसे ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठता प्राप्त हो। ब्रह्मविद्वरीयान् वह बुद्धि है, जिससे वह ब्रह्मविद्या में दक्ष ही नहीं वरन् उसका नियन्त्रक, संचालक बन जाता है। ब्रह्मविद्वरिष्ठ बुद्धि का वह अन्तिम छोर है, जिससे इष्ट प्रवाहित है। यहाँ तक बुद्धि का अस्तित्व है; क्योंकि प्रवाहित होनेवाला इष्ट अभी कहीं अलग है और ग्रहणकर्त्ता बुद्धि अलग है। अभी वह प्रकृति की सीमा में है। अब स्वयं प्रकाशस्वरूप में जब बुद्धि (ब्रह्मा) रहती है, जागृत है तो सम्पूर्ण भूत (चिन्तन का प्रवाह) जागृत है और जब अविद्या में रहती है तो अचेत है। इसी को प्रकाश और अन्धकार, रात्रि और दिन कहकर सम्बोधित किया जाता है। देखें–

ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मविद्वेत्ता की वह श्रेणी, जिसमें इष्ट प्रवाहित है, उसको प्राप्त सर्वोत्कृष्ट बुद्धि में भी विद्या (जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है, उसमें मिलाती है) का दिन और अविद्या की रात्रि, प्रकाश और अन्धकार का क्रम लगा रहता है, यहाँ तक साधक में माया कामयाब होती है। प्रकाशकाल में अचेत भूत सचेत हो जाते हैं, उन्हें लक्ष्य दिखायी पड़ने लगता है तथा बुद्धि के अन्तराल में अविद्या की रात्रि के प्रवेशकाल में सभी भूत अचेत हो जाते हैं। बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती। स्वरूप की ओर बढ़ना बन्द हो जाता है। यही ब्रह्मा का दिन और यही ब्रह्मा की रात्रि है। दिन के प्रकाश में बुद्धि की सहस्रों प्रवृत्तियों में ईश्वरीय प्रकाश छा जाता है और अविद्या की रात्रि में इन्हीं सहस्रों परतों में अचेतावस्था का अन्धकार आ जाता है।

शुभ और अशुभ, विद्या और अविद्या– इन दोनों प्रवृत्तियों के सर्वथा शान्त होने पर अर्थात् अचेत और सचेत, रात्रि में विलीन और दिन में उत्पन्न दोनों प्रकार के भूतों (संकल्प प्रवाह) के मिट जाने पर उस अव्यक्त बुद्धि से भी अति परे शाश्वत अव्यक्त भाव मिलता है, जो फिर कभी नष्ट नहीं होता।

भूतों की अचेत और सचेत दोनों स्थितियों के मिटने पर ही वह सनातन भाव मिलता है।

बुद्धि की उपर्युक्त चार अवस्थाओं के बाद वाला पुरुष ही महापुरुष है। उसके अन्तराल में बुद्धि नहीं है, बुद्धि परमात्मा का यन्त्र जैसी हो गई है किन्तु लोगों को वह उपदेश करता है, निश्चय से प्रेरणा देता है अतः उसमें बुद्धि प्रतीत होती है; किन्तु वह बुद्धि के स्तर से परे है। वह परम अव्यक्त भाव में स्थित है, उसका पुनर्जन्म नहीं होना है; किन्तु इस अव्यक्त स्थिति से पूर्व जब तक उसके पास अपनी बुद्धि है, जब तक वह ब्रह्मा है, वह पुनर्जन्म की परिधि में ही है। इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जो हजार चतुर्युगों की ब्रह्मा की रात्रि और हजार चतुर्युगों के उसके दिन को साक्षात् जानते हैं, वे पुरुष समय के तत्त्व को यथार्थ जानते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में दिन और रात विद्या और अविद्या के रूपक हैं। ब्रह्मविद्या से संयुक्त बुद्धि ब्रह्मा की प्रवेशिका तथा ब्रह्मविद्वरिष्ठ बुद्धि ब्रह्मा की पराकाष्ठा है। विद्या से संयुक्त बुद्धि ही ब्रह्मा का दिन है। जब विद्या कार्यरत होती है, उस समय योगी स्वरूप की ओर अग्रसर होता है, अन्तःकरण की सहस्त्रों प्रवृत्तियों में ईश्वरीय प्रकाश का संचार हो उठता है। इसी प्रकार अविद्या की रात्रि आने पर अन्तःकरण की सहस्त्रों प्रवृत्तियों में माया का द्वन्द्व प्रवाहित होता है। प्रकाश और अन्धकार की यहीं तक सीमा है। इसके पश्चात् न तो अविद्या रह जाती है और न विद्या ही। वह परमतत्त्व परमात्मा विदित हो जाता है। जो इसे तत्त्व से भली प्रकार जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्त्व को जाननेवाले हैं कि कब अविद्या की रात होती है? कब विद्या का दिन आता है। काल का प्रभाव कहाँ तक है अथवा समय कहाँ तक पीछा करता है?

प्रारम्भिक मनीषी अन्तःकरण को चित्त अथवा कभी-कभी केवल बुद्धि कहकर सम्बोधित करते थे। कालान्तर में अन्तःकरण का विभाजन मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की चार प्रमुख वृत्तियों में किया गया, वैसे अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ अनन्त हैं। बुद्धि के अन्तराल में ही अविद्या की

रात्रि होती है और उसी बुद्धि में विद्या का दिन भी होता है। यही ब्रह्मा की रात्रि और दिन है। जगत्‌रूपी रात्रि में सभी अचेत पड़े हैं। प्रकृति में विचरण करती हुई उनकी बुद्धि उस प्रकाशस्वरूप को नहीं देख पाती; किन्तु योग का आचरण करनेवाले योगी इससे जग जाते हैं, वे स्वरूप की ओर बढ़ते हैं, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है–

कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।।
(रामचरित मानस, ४/१५ ख)

विद्या से संयुक्त बुद्धि कुसंग पाकर अविद्या में परिणत हो जाती है, पुनः सुसंग से विद्या का संचार उसी बुद्धि में हो जाता है। यह उतार-चढ़ाव पूर्तिपर्यन्त लगा रहता है। पूर्ति के पश्चात् न बुद्धि है न ब्रह्मा, न रात रहती है न दिन। यही ब्रह्मा के दिन-रात के रूपक हैं। न हजारों साल की लम्बी रात होती है न हजारों चतुर्युग का दिन ही होता है और न कहीं कोई चार मुँहवाला ब्रह्मा ही है। बुद्धि की उपर्युक्त चार क्रमिक अवस्थाएँ ही ब्रह्मा के चार मुख और अन्तःकरण की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ ही उनके चतुर्युग हैं। रात और दिन इन्हीं प्रवृत्तियों में होते हैं। जो पुरुष इसके भेद को तत्त्व से जानते हैं, वे योगीजन काल के भेद को जानते हैं कि काल कहाँ तक पीछा करता है और कौन पुरुष काल से भी अतीत हो जाता है? रात्रि और दिन, अविद्या और विद्या में होनेवाले कार्य को योगेश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं–

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अर्थात् विद्या (दैवी सम्पद्) के प्रवेश काल में सम्पूर्ण प्राणी अव्यक्त बुद्धि में जागृत हो जाते हैं और रात्रि के प्रवेशकाल में उसी अव्यक्त, अदृश्य बुद्धि में जागृति के सूक्ष्म तत्त्व अचेत हो जाते हैं। वे प्राणी अविद्या की रात्रि में स्वरूप को स्पष्ट देख नहीं पाते; किन्तु उनका अस्तित्व रहता है। जागृत होने और अचेत होने का माध्यम यह बुद्धि है, जो सबमें अव्यक्त रहती है, दृष्टिगोचर नहीं है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

हे पार्थ! सब प्राणी इस प्रकार जागृत होकर प्रकृति से विवश होकर अविद्यारूपी रात्रि के आने पर अचेत हो जाते हैं। वे नहीं देख पाते कि हमारा लक्ष्य क्या है? दिन के प्रवेशकाल में वे पुनः जागृत हो जाते हैं। जब तक बुद्धि है, तब तक इसके अन्तराल में विद्या और अविद्या का क्रम चलता रहता है। तब तक वह साधक ही है, महापुरुष नहीं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

एक तो ब्रह्मा अर्थात् बुद्धि अव्यक्त है, इन्द्रियों से दिखायी नहीं पड़ती और इससे भी परे सनातन अव्यक्त भाव है, जो भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता अर्थात् विद्या में सचेत और अविद्या में अचेत, दिन में उत्पन्न और रात्रि में विलीन भावोंवाले अव्यक्त ब्रह्मा के भी मिट जाने पर वह सनातन अव्यक्त भाव मिलता है, जो नष्ट नहीं होता। बुद्धि में होनेवाले उक्त दोनों उतार-चढ़ाव जब मिट जाते हैं तब सनातन अव्यक्त भाव मिलता है, जो मेरा परमधाम है। जब सनातन अव्यक्त भाव प्राप्त हो गया तो बुद्धि भी उसी भाव में रंग जाती है, उसी भाव को धारण कर लेती है। इसलिए वह बुद्धि स्वयं तो मिट जाती है और उसके स्थान पर सनातन अव्यक्त भाव ही शेष बचता है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

उस सनातन अव्यक्त भाव को अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। उसी को परमगति कहते हैं। वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इस सनातन अव्यक्त भाव की प्राप्ति का विधान बताते हैं-

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पार्थ! जिस परमात्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूत हैं, जिससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, सनातन अव्यक्त भाववाला वह परमपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। अनन्य भक्ति का तात्पर्य है कि परमात्मा के सिवाय अन्य किसी का स्मरण न करते हुए उनसे जुड़ जाय। अनन्य भाव से लगनेवाले पुरुष भी कब तक पुनर्जन्म की सीमा में हैं और कब वे पुनर्जन्म का

अतिक्रमण कर जाते हैं? इस पर योगेश्वर कहते हैं-

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे अर्जुन! जिस काल में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पुनर्जन्म को नहीं पाते और जिस काल में शरीर त्यागने पर पुनर्जन्म पाते हैं, मैं अब उस काल का वर्णन करता हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

शरीर-सम्बन्ध का त्याग करते समय जिनके समक्ष ज्योतिर्मय अग्नि जल रही हो, दिन का प्रकाश फैला हो, सूर्य चमक रहा हो, शुक्लपक्ष का चन्द्र बढ़ रहा हो, उत्तरायण का निरभ्र और सुन्दर आकाश हो, उस काल में प्रयाण करनेवाले ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

अग्नि ब्रह्मतेज का प्रतीक है। दिन विद्या का प्रकाश है। शुक्लपक्ष निर्मलता का द्योतक है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, तेज और प्रज्ञा ये षडैश्वर्य ही षण्मास हैं। ऊर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। प्रकृति से सर्वथा परे इस अवस्था में जानेवाले ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता; किन्तु अनन्य चित्त से लगे हुए योगीजन यदि इस आलोक को प्राप्त नहीं कर पाये, जिनकी साधना अभी पूर्ण नहीं है, उनका क्या होता है? इस पर कहते हैं-

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

जिसके प्रयाणकाल में धुआँ फैल रहा हो, योगाग्नि हो (अग्नि यज्ञ-प्रक्रिया में पाये जानेवाले अग्नि का स्वरूप है।); किन्तु धुएँ से आच्छादित हो, अविद्या की रात्रि हो, अँधेरा हो, कृष्णपक्ष का चन्द्रमा क्षीण हो रहा हो, कालिमा का बाहुल्य हो, षड्विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) से युक्त दक्षिणायन अर्थात् बहिर्मुखी हो (जो परमात्मा के प्रवेश से अभी बाहर है।) उस योगी को पुनः जन्म लेना पड़ता है। तो क्या शरीर के साथ उस योगी की साधना नष्ट हो जाती है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

उपर्युक्त शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकार की गतियाँ जगत् में शाश्वत हैं अर्थात् साधन का कभी विनाश नहीं होता। एक (शुक्ल) अवस्था में प्रयाण करनेवाला पीछे न आनेवाली परमगति को प्राप्त होता है और दूसरी अवस्था में, जिसमें क्षीण प्रकाश तथा अभी कालिमा है ऐसी अवस्था को गया हुआ पीछे लौटता है, जन्म लेता है। जब तक पूर्ण प्रकाश नहीं मिलता, तब तक उसे भजन करना है। प्रश्न पूर्ण हुआ। अब इसके लिए साधन पर पुनः बल देते हैं-

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! इस प्रकार इन मार्गों को जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। वह जानता है कि पूर्ण प्रकाश पा लेने पर ब्रह्म को प्राप्त होगा और क्षीण प्रकाश रहने पर भी पुनर्जन्म में साधन का नाश नहीं होता। दोनों गतियाँ शाश्वत हैं। अतः अर्जुन! तू सब काल में योग से युक्त हो अर्थात् निरन्तर साधन कर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

इसको साक्षात्कार सहित जानकर (मानकर नहीं) योगी वेद, यज्ञ, तप और दान के पुण्यफलों का निःसन्देह अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परमपद को प्राप्त होता है। अविदित परमात्मा की साक्षात् जानकारी का नाम वेद है। वह अविदित तत्त्व जब विदित हो गया, तो अब कौन किसे जाने? अतः विदित होने के पश्चात् वेदों से भी प्रयोजन समाप्त हो जाता है; क्योंकि जाननेवाला भिन्न नहीं है। यज्ञ अर्थात् आराधना की नियत क्रिया आवश्यक थी; किन्तु जब वह तत्त्व विदित हो गया तो किसके लिए भजन करें? मनसहित इन्द्रियों को लक्ष्य के अनुरूप तपाना तप है। लक्ष्य प्राप्त होने पर किसके लिए तप करें? मन, वचन और कर्म से सर्वतोभावेन समर्पण का नाम दान है। इन सब का पुण्यफल है परमात्मा की प्राप्ति। फल भी अब विलग नहीं है अतः इन सबकी अब आवश्यकता ही न रही। वह योगी यज्ञ,

तप, दान इत्यादि के फल को भी पार कर जाता है। वह परमपद को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष –

इस अध्याय में पाँच प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया गया। जिनमें सर्वप्रथम अध्याय सात के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा बीजारोपित प्रश्नों को स्पष्ट समझाने की जिज्ञासा से इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने सात प्रश्न किये कि – भगवन्! जिसे आपने कहा, वह ब्रह्म क्या है? वह अध्यात्म क्या है? वह सम्पूर्ण कर्म क्या है? अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ क्या है और अन्तकाल में आप किस प्रकार जानने में आते हैं कि कभी विस्मृत नहीं होते? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि जिसका विनाश नहीं होता, वही परब्रह्म है। स्वयं की उपलब्धि वाला परमभाव ही अध्यात्म है। जिससे जीव माया के आधिपत्य से निकलकर आत्मा के आधिपत्य में हो जाता है, वही अध्यात्म है और भूतों के वे भाव जो शुभ अथवा अशुभ संस्कारों को उत्पन्न करते हैं, उन भावों का रुक जाना '**विसर्गः**'– मिट जाना ही कर्म की सम्पूर्णता है। इसके आगे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संस्कारों के उद्‌गम को ही मिटा देता है।

इसी प्रकार क्षरभाव अधिभूत हैं अर्थात् नष्ट होनेवाले ही भूतों को उत्पन्न करने में माध्यम हैं। वे ही भूतों के अधिष्ठाता हैं। परमपुरुष ही अधिदैव है। उसमें दैवी सम्पद् विलीन होती है। इस शरीर में अधियज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् जिसमें यज्ञ विलय होते हैं, वह मैं हूँ, यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ। वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे। अधियज्ञ कोई ऐसा पुरुष है जो इस शरीर में रहता है, बाहर नहीं। अन्तिम प्रश्न था कि अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं। उन्होंने बताया कि जो मेरा निरन्तर स्मरण करते हैं, मेरे सिवाय किसी दूसरे विषय-वस्तु का चिन्तन नहीं आने देते और ऐसा करते हुए शरीर का सम्बन्ध त्याग देते हैं, वे मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होते हैं, जिसे अन्त में भी वही प्राप्त रहता है। शरीर की मृत्यु के साथ यह उपलब्धि होती हो ऐसी बात नहीं है। मरने पर ही मिलता तो श्रीकृष्ण पूर्ण न होते, अनेक जन्मों में चलकर पानेवाला ज्ञानी उनका स्वरूप

न होता। मन का सर्वथा निरोध और निरुद्ध मन का भी विलय ही अन्तकाल है, जहाँ फिर शरीरों की उत्पत्ति का माध्यम शान्त हो जाता है। उस समय वह परमभाव में प्रवेश पा जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

इस प्राप्ति के लिए उन्होंने स्मरण का विधान बताया कि, अर्जुन! निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। दोनों एक साथ कैसे होगा? कदाचित् ऐसा हो कि 'जय गोपाल, हे कृष्ण' कहते रहें, लाठी भी चलाते रहें। स्मरण का स्वरूप स्पष्ट किया कि योग-धारणा में स्थिर रहते हुए, मेरे सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का स्मरण न करते हुए निरन्तर स्मरण कर। जब स्मरण इतना सूक्ष्म है, तो युद्ध कौन करेगा? मान लीजिए, यह पुस्तक भगवान है, तो इसके अगल-बगल की वस्तु, सामने बैठे हुए लोग या अन्य देखी-सुनी कोई वस्तु संकल्प में भी न आये, दिखाई न पड़े। यदि दिखाई पड़ती है तो स्मरण नहीं है, ऐसा स्मरण में युद्ध कैसा? वस्तुतः जब आप इस प्रकार निरन्तर स्मरण में प्रवृत्त होंगे, तो उसी क्षण युद्ध का सही स्वरूप खड़ा होता है। उस समय मायिक प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। काम, क्रोध, राग-द्वेष दुर्जय शत्रु हैं। ये शत्रु स्मरण करने नहीं देंगे। इनसे पार पाना ही युद्ध है। इन शत्रुओं के मिट जाने पर ही व्यक्ति परमगति को प्राप्त होता है।

इस परमगति को पाने के लिए अर्जुन! तू जप तो 'ओम्' का और ध्यान मेरा कर अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे। नाम और रूप आराधना की कुंजी है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न को भी लिया कि पुनर्जन्म क्या है? उसमें कौन-कौन आते हैं? उन्होंने बताया कि ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् पुनरावर्ती है और इन सबके समाप्त होने पर भी मेरा परम अव्यक्त भाव तथा उसमें स्थिति समाप्त नहीं होती।

इस योग में प्रविष्ट पुरुष की दो गतियाँ हैं। जो पूर्ण प्रकाश को प्राप्त षडैश्वर्यसम्पन्न ऊर्ध्वरेता है, जिसमें लेशमात्र भी कमी नहीं है, वह परमगति को प्राप्त होता है। यदि उस योगकर्त्ता में लेशमात्र भी कमी है, कृष्णपक्ष-सी कालिमा का संचार है, ऐसी अवस्था में ही शरीर का समय समाप्त होनेवाले योगी को जन्म लेना पड़ता है। वह सामान्य जीव की तरह जन्म-मरण के

चक्कर में नहीं फँसता बल्कि जन्म लेकर उससे आगे की शेष साधना को पूरा करता है।

इस प्रकार आगे के जन्म में उसी क्रिया से चलकर वह भी वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परमधाम है। पहले भी श्रीकृष्ण कह आये हैं कि इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार कराके ही छोड़ता है। 'दोनों रास्ते शाश्वत हैं, अमिट हैं' - इस बात को समझकर कोई भी पुरुष योग से चलायमान नहीं होता। अर्जुन! तू योगी बन। योगी वेद, तप, यज्ञ और दान के भी पुण्यफल का उल्लंघन कर जाता है, परमगति को प्राप्त होता है।

इस अध्याय में स्थान-स्थान पर परमगति का चित्रण किया गया है जिसे अव्यक्त, अक्षय और अक्षर कहकर सम्बोधित किया गया, जिसका कभी क्षय अथवा विनाश नहीं होता। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।